और्ध्वदैहिक कर्म(मृत्यु अनन्तर करणीय कर्म) की तत्त्व मीमांसा और आवश्यकता

शरीर छूटने के बाद जो कर्म किये जाते है, वे और्ध्वदेहिक कर्म कहे जाते हैं। मीमांसा शास्त्र की परिभाषा के अनुसार उनका ' उपयुक्त संस्कार' शब्द से व्यवहार किया जा सकता है। यद्यपि स्मार्त-श्रौत यज्ञों मे यजमान यज्ञ के उपयोग में आने वाले द्रव्य को प्रोक्षण-अवहनन-पेषण-उत्पवन-पर्यग्निकरण आदि संस्कारों से संस्कृत कर जो हवन करता है, ये संस्कार उपयोक्ष्यमाण संस्कार कहे जाते हैं; वही यजमान प्रधान कर्म में उपयुक्त द्रव्य का स्विष्टकृत् इडा भक्षण आदि संस्कार करता है, ये उपयुक्त संस्कार कहे जाते हैं। और्ध्वदैहिक कर्म में यजमान बदल जाते है। अर्थात् उपयोक्ष्यमाण कर्मो को करने वाला पिता, एवं उपयुक्त कर्मों को करने वाला पुत्र हो जाता है। उपयोक्ष्यमाण एवं उपयुक्त संस्कार एककर्तृक सिद्ध

नही, जो कि शास्त्रसम्मत है, तथापि कर्म का कर्ता शरीर नही, किन्तु आत्मा है। पिता के शरीर मे एवं पुत्र के शरीर में विद्यमान वह आत्मा ' **आत्मा वै पुत्रनामासि'** आदि प्रमाणों द्वारा एक ही है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो एककर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। **जातकर्म-नामकरण आदि संस्कार जिस पिता ने जिस पुत्र का किया है वह पुत्र ही पिता है, वह पिता ही पुत्र है। पिता और पुत्र शब्द निरूपक भेद से भिन्न व्यवहृत होते हैं।** व्यवहार में ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि पिता ही पुत्र हो जाता है, पुत्र पिता बन जाता है। अतएव अनेक यजमान मिल कर दीर्घकाल-साध्य ' सत्र' याग करते हैं, यदि याग के मध्य में किसी यजमान का देह छूट जाता है तो श्रुति कहती है-

यदि सत्राय सन्दीक्षितानां प्रमीयेत तं दग्ध्वा कृष्णाजिनेड स्थीन्युपनह्य योऽस्य नेदिष्ठस्तं दीक्षयित्वा तेन सह यजेरन्।

अर्थात् सत्र याग के दीक्षितों में से यदि कोई यजमान

दिवंगत हो जाता हो तो उसका दाह-संस्कार कर उसके सन्निहित भ्राता या पुत्र को दीक्षा देकर उसके साथ सत्रयाग सम्पन्न करना चाहिए।

इससे अवगत होता है कि जिस निकटस्थ व्यक्ति को हम प्रतिनिधि चुनते हैं, वह उससे अनन्य है। इसका विस्तृत विचार मीमांसा के दशमाध्याय द्वितीय पाद में किया गया है।

उपयोक्ष्यमाण संस्कार को यदि पिता पुत्र के लिए करता हो तो पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने संस्कार में उपयुक्त पिता का संस्कार स्वयं करे। पिता-पुत्र का औरस सम्बन्ध तो है ही, इसके साथ अलौकिक अग्नि का सम्बन्ध भी परम्परा से चला आ रहा है। जैसे पिता ने अपनी वैवाहिक अग्नि द्वारा पुत्र का उपनयन आदि संस्कार किया है, उसी प्रकार पुत्र भी अपनी वैवाहिक अग्नि द्वारा पिता का और्ध्वदेहिक संस्कार करेगा। अग्नि के भेद होने पर भो परम्परा से एकता को प्राप्त करता है। यह भी सनातन धर्म लक्षण के अन्तर्गत है।

विवाह के अंतर्गत **अग्नि से पालित कन्या अग्नि बन कर पति कुल में आयी है, तो वर अग्निमान् होने का अधिकार प्राप्त करता है। माता-पिता के देहावसान होने पर उस अग्नि से ही अन्त्येष्टि दाह-संस्कार होता है।**

अन्त्येष्टि को ' पितृमेध संस्कार' भी कहा जाता है। ' **पितृमेध संस्कार' यज्ञ के समान माना गया है।** सोमयाग करके यदि यजमान दिवंगत हो गया हो तो उस शन-शरीर को जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, झुवा आदि पात्रों से अलंकृत कर दाह किया जाता है। यज्ञ पात्रों को ' यज्ञायुध' कहते है। इस प्रसङ्ग में एक वाक्य है-

स एष यज्ञायुधीऽजसा स्वर्ग लोकं याति।

अर्थात् यह यज्ञायुध वाला यजमान स्वर्गलोक जा रहा है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष विरुद्ध मालूम पड़ रहा है, क्योंकि वह शव-शरीर दग्ध हो रहा है। दग्ध शरीर स्वर्गलोक कैसे जायगा? मीमांसा भाष्यकार श्रीशबरस्वामी इस वाक्य का विचार करते हुए कहते

है कि जिसका यह शरीर है वह यज्ञायुधी जा रहा है। किसका यह शरीर है? इस शरीर को छोड़ कर दूसरा प्रत्यक्ष नहीं प्रतीत होता। ऐसी शङ्का होने पर भाष्यकार, विज्ञानवादी के नाना प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अन्त में कहते हैं कि-

यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुष इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्याऽनु मोयते। यदाऽसौ पुरुषः पूर्वेयुः सामिकृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते। अतः प्रवृत्त्याऽवगम्यते-नूनमसावनित्यान् नित्यमवगच्छतीति।

अर्थात् हर-एक पदार्थ को जानने के लिए दो मार्ग है- एक विधि दूसरा निषेध। जो विधि द्वारा शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नही मानना चाहता वह निषेध द्वारा सत्ता मान लेता है। अतएव भाष्यकार ' प्राणिति, इच्छति, श्वसिति, जानाति, स्मरति, प्रत्यभिजानाति' आदि विधिमुख प्रयोगों द्वारा आत्मा को शरीर से अतिरिक्त दिखला कर ' नेति नेति' निषेध

द्वारा पुनः उसकी सत्ता दिखलाये। इसमें ' यतते' का प्रयोग विद्यमान है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने हेतु ' जानाति इच्छति यतते करोति' ये चार क्रियाएँ होती हैं। इनमें ' यतते' क्रिया से जो यत्न प्रतिपादित है, वह चेतन के विना अन्यत्र नहीं बैठ सकता।

उस चेतन को ' आत्मा' कहें या ' जीव' अथवा दूसरी संज्ञा से व्यवहार करें; किन्तु शरीर, बुद्धि, मन आदि से वह अतिरिक्त है। आत्मा को अतिरिक्त नहीं मानने वाले कहा करते हैं -

त्यज्यतामेषो मूर्धाभिषिक्तः प्रथमो मोह आत्मग्रहो नाम तन्निवृत्तौ आत्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति अह मेव न, किं ममेति। यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन। अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ।।

तात्पर्य है कि आत्मग्रह एक बड़ा मोह है, इसे छोड़ना चाहिए। इस मोह की निवृत्ति होने पर अपनापन भी विरत हो जाता है। जब मैं ही नहीं हूँ तो मेरा क्या रहेगा? यदि अहं नाम का कोई होता तो जिस-किसी

से भय हो सकता था। अहं ही नहीं है, तो भय किस चीज का। बात तो अच्छी है। ऐसी भावना वैराग्य की साधक तो अवश्य है, किन्तु वह वैराग्य किसको होगा? जब आत्मग्रह को छोड़ दिया जाता है। ' **द्वितीयाद् वै भयं भवति'** इस प्रमाण से भय का प्रादुर्भाव दूसरे के रहने पर ही सम्भव है। अकेला रहने पर भय किस बात का? एवञ्च अहं-आत्मा को मानने पर वह यदि एक है तो भय का अवसर ही नही है। यद्यपि दोनों पक्ष व्यावहारिक नहीं प्रतीत होते, तथापि

त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।

कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः ॥

इस उक्ति के अनुसार व्यवहार दशा में अहंभाव को छोड़ना चाहिए, यदि वह मही छूटता हो तो सब मे अहंभाव रखना चाहिए। इस रोति से द्वितीय पक्ष को व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

किसी चीज को प्राप्त करने मे 'अस्ति' समझ कर ही

यत्न किया जाता है। 'नास्ति' का निश्चय कर लेने पर उसकी प्राप्ति में किसी की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्धकार से आच्छादित वस्तु की प्राप्ति के लिए दीप प्रज्वलित किया जाता है। शश-विषाण या तुरग-विषाण जो नही है, उसकी प्राप्ति के लिए दीपक नहीं जलाया जाता। हमें सम दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए, न कि विषम दृष्टि से। श्रुतियों मे **'असदेवेदमग्र आसीत्' ' सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' दोनों पक्ष उद्धृत हैं।** इससे मालूम होता है कि ' नास्ति' और ' अस्ति' दोनों का प्रामाण्य है। दोनों का विरोध स्पष्ट है। बुद्धिमान् का कर्तव्य होता है कि वह समग्र प्रकरण में आगे-पीछे के पदार्थों पर दृष्टि रखकर विरोध का परिहार ढूंढे। ढूंढने पर विरोध का परिहार यदि मिल जाय तो कलह का अवसर क्यों होगा? जिस प्रमाण से जिस प्रमेय को सिद्ध करना था उस प्रमाण का खूब विचार कर हमारे दार्शनिकों ने प्रमेय को सिद्ध किया है। हम उसी परम्परा के है। अतः शरीर आदि से अतिरिक्त आत्म तत्त्व मानकर चलना चाहिए।

आत्मतत्त्व के सिद्ध होने पर **'स एष यज्ञायुधी अञ्जसा स्वर्ग लोकं याति'** इस वाक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। यह वाक्य और्ध्वदेहिक कर्म की उपयुक्त संस्कार के रूप में कर्तव्यता का भी प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मा शरीर आदि से अतिरिक्त है और शरीर उसका भोगायतन है। उस स्थूल शरीर के नष्ट होने पर आत्मा लिंगशरीर धारण करता है। **दाह संस्कार समाप्त होने पर वह आत्मा लिङ्गशरीर (प्रेतशरीर) का आश्रय लेता है और पुनः उससे छुटकारा पाने के लिए पुत्र या अन्य और्ध्वदेहिक कर्म-कर्ता के द्वारा विहित कर्म-कलाप के अनुष्ठान की प्रतीक्षा करता रहता है। दस दिन तक कर्ता के दिये हुए वासोदक एव तिलोदक को प्राप्त कर एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण श्राद्ध की प्रतीक्षा करता रहता है। ग्यारहवें दिन विधिवत् एकोद्दिष्ट श्राद्ध**

सम्पन्न हो जाता है। बारहवें दिन सपिण्डीकरण श्राद्ध होता है। इसी श्राद्ध से प्रेत (लिङ्ग) शरीर से छुटकारा पाकर वह आत्मा पितृकोटि मे सम्मिलित होकर तदनुकूल शरीर धारण करता है।

सपिण्डीकरण श्राद्ध बारह मास समाप्त होने पर मरण -तिथि मे किया जाता है। लेकिन आजकल बारहवें दिन ही सपिण्डीकरण श्राद्ध करने की प्रथा चल पड़ी है। यह प्रथा इसलिए चली है कि और्ध्वदेहिक कर्म करने वाला बारह मास तक जीवित रहेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं है। करने वाले का शरीर मध्य मे छूट जाय तो प्रेतयोनि से छुटकारा न होने से वह जीव कष्ट में पड़ जायगा। अत एव बारहवें दिन ही सपिण्डीकरण प्रचलित हो गया। किन्ही-किन्ही प्रान्तों में सपिण्डीकरण बारहवें मास मे ही किया जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जिसका शरीर छूट गया है, जीवनावस्था में जैसे जैसे कर्म उसने किये है तदनुसार

ही जन्म प्राप्त होगा;और्ध्वदैहिक कर्म के कर्ता द्वारा किये जाने वाले संस्कार उसे कैसे बदल सकते है?

सपिण्डीकरण श्राद्ध के अनुष्ठान से वह लिङ्ग शरीर जो प्रेतसम्बद्ध है, उससे वह मुक्त हो जाता है। अपने किये हुए कर्म तो कारण शरीर के साधक है, लिङ्गशरीर के नही। प्रेतशरीर से मुक्त होने के लिए पुत्र आदि कर्ता के द्वारा अनुष्ठित संस्कार हो कारण है। क्योंकि सपिण्डीकरण में पिण्ड संयोजन मन्त्र से यह अवगत होता है

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं संबो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्व सञ्जानाना उपासते ।।

समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समान मनः सह चित्तमेषाम्।

समान मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

समांनी व आकूतिस्समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा नस्सुसहासति ।।

सूत्रकारों ने इस मन्त्र का पिण्डसंयोजन में विनियोग दर्शाया है। अर्थात् इस मन्त्र को पढ़ते हुए पिण्डसंयोजन किया जाता है। मन्त्र के अर्थ पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि और्ध्वदैहिक कर्म का अनुष्ठाता किस प्रकार अपने पिता को प्रेत-योनि से मुक्त करा कर पितृकोटि में मिलाता है। मन्त्र के – '**सङ्गच्छध्वम्**' '**संवदध्वम्**' ये दोनों मध्यम पुरुष बहु वचन में विद्यमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि कर्म करने वाला सम्बोधित करके बोल रहा है। सम्बोधन आमने-सामने विद्यमान व्यक्तियों का होता है। कर्ता पुत्र पितरों को अपने सामने मान कर सम्बोधन करते हुए कहता है- आप मिल-जुल कर रहे एवं आपसी विरोध को भुला कर समान रूप से बात करें। आप का मन एक ही वस्तु को जाने। जैसे पुरातन देवता ऐकमत्य-एकता प्राप्त कर अपना हविर्भाग ग्रहण करते है, वैसे ही आपलोग भी स्वीकार करें। सम्बोधन परोक्ष मे भी

होता है, प्रत्यक्ष मे भी। आपलोग मन, चित्त और विचार द्वारा अर्थात् मनसा वाचा कर्मणा एकरूपता को प्राप्त करें। मैं अपनी हवि दे रहा हूँ, उसको ग्रहण करें, आपका संकल्प-अध्यवसाय समान हो, आपके।हृदय समान रहे, आप का शोभन साहित्य बना रहे। पिण्डविधान परम्परा के भेद से एक पिण्ड, त्रिपिण्ड या षट् पिण्ड के रूप मे चलता है।

सपिण्डीकरण श्राद्ध से पितरों की कोटि में अपने पिता या माता को मिला देने पर पुत्र का एक दायित्व समाप्त हो जाता है, पर पितृकोटि से उन्हें मुक्त कराने के लिए प्रति वर्ष मरण-तिथि में वार्षिक पार्वणश्राद्ध करना पड़ता है। जैसे पिता के द्वारा अपने पितृ-पितामह-प्रपितामह एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही के श्राद्ध के समय आराधन चलता था वैसे पुत्र भी वृद्ध प्रपितामह और वृद्ध प्रपितामही का उद्धार समझ कर अपने पितृ-पितामह प्रपितामह एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही का उपयुक्त सस्कार कर उद्धार करता है।

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661

इस परम्परा से ज्ञात होता है कि अग्रिम अपने सन्तति के योगक्षेम के निमित्त श्राद्ध की।प्रक्रिया चली है। श्राद्ध नित्य-मासिक-ऊनत्रैमासिक-ऊनषाण्मासिक, पाण्मासिक-ऊनाब्दिक, आब्दिक रूप से अनेक प्रकार का है। स्मृति-पुराण-सूत्र ग्रन्थों मे श्राद्धों का विस्तार वर्णित है। उन सबके वर्णन से एक महान् ग्रन्थ ही बन जायगा। पुत्र के लिए श्राद्ध करने का यह विशेष अनुष्ठान है। पुत्र पिता का ऋणी है। ऋणी बन कर रहना उचित नही है। ऋण से मुक्त होना हर-एक पुत्र का कर्तव्य है। जीवदवस्था मे पिता इसीलिए अपने पुत्र को विविध संस्कारों से संस्कृत करता है ताकि मेरे मरणोपरान्त मेरा पुत्र कर्तव्य का पालन करता रहे। यही भारतीय परम्परा है।

पिता यदि पुत्र का पालक है तो पुत्र पिता का तारक है। दोनों एक है, तो दोनों एक क्रियावान् है। व्यापार और व्यापारवान् एवं शक्ति और शक्तिमान् का अभेद मान कर चलना भी शास्त्र है।

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661

अपर कार्यों की प्रक्रिया अति विस्तृत है। सोचना चाहिए कि विस्तार से लिखने का प्रयास प्राचीनों ने क्यों उठाया? उपयोक्ष्यमाण एवं उपयुक्त संस्कारों का अनुष्ठान करते हुए लोग अपनी नैतिकता को व्यवस्थित संरक्षण देते रहे यही चिरन्तनों का प्रधान उद्देश्य रहा होगा। लोगो को प्रतारित कर अपने वश मे रखने का उद्देश्य नहीं होगा | प्रतारण कर उन्हे क्या लाभ उठाना था? जो प्रक्रिया परम्परा से चली आ रही है और जो भारतीयता का द्योतक है उसका आगे की पीढी के लोग अनुसरण करते हुए भारतमाता के शिर को ऊँचा उठाते रहे, यही प्रधान उद्देश्य चिरन्तनों का है।

चिरन्तनों ने पितरों को तीन कोटि मे विभक्त कर दिखलाया है-वसु-रुद्र-आदित्य। पिता को वसु, पितामह को रुद्र, प्रपितामह को आदित्य एवं मातृ-पितामही-प्रपितामही को भी वसु-रुद्र-आदित्य भावना से मानकर श्राद्ध कर्म का अनुष्ठान बतलाया गया है।

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661

जैसे इन्द्र-वरुण आदि यज्ञीय देवताएँ है, वैसे वसु-रुद्र-आदित्य देवताएँ है। देवता की भावना से हमें श्राद्ध करना है। यह हमारी परम्परा है। इस परम्परा मे नैतिकता अवस्थित है।

नैतिकता का पालन मानव मात्र के लिए आवश्यक है। इससे चरित्र बनता है। देशवासी सच्चरित्र होंगे तो देश समुन्नत रहेगा । इसीलिए प्राचीनों का इतना प्रयास है।

इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए हम भारतवासी एक जुट होकर यत्न करें तो हमारी आनेवाली पीढ़ो प्राचीन भारत के गौरव का अनुभव कर सकेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आदि शंकर वैदिक विद्या संस्थान

दूरभाष: 9044016661